मौलिक चिंतन पर कुछ विचार

श्री अरविंद

विचार की मौलिकता के प्रति मनुष्यों के रवैये में हमेशा ही एक स्वाभाविक झिझक और असंगति रही है। हालाँकि मौलिक चिंतन अपनी दुर्लभता, चमक और प्रभावशीलता के कारण सराहा जाता है, लेकिन व्यवहार में इन्हीं ख़ूबियों के कारण उसे आमतौर पर ख़तरनाक माना जाता है, लोग उसका उपहास करते हैं और उससे भयभीत भी रहते हैं। दरअसल मौलिकता में स्थापित विचारों को अस्त-व्यस्त कर देने की क्षमता होती है। इसीलिए तामसी व्यक्तियों और तामसी स्थितियों वाले समाजों द्वारा विचारों की स्वतंत्रता हतोत्साहित करने की कोशिशें ख़ासतौर से की जाती हैं। उनका ज़ोर हमेशा प्राधिकार पर रहता है। दूसरे समाजों के मुक़ाबले भारतीय समाज पिछले दिनों कहीं ज़्यादा तामसी हुआ है। इसमें जड़ता भरी जा रही है और यह अपनी संकीर्णता में

उत्तरोत्तर संतुष्ट रहने लगा है। गतिहीनता के ज़रिये ख़ुद को संरक्षित करने में इतनी ज़्यादा दिलचस्पी दिखाने वाले समाज कम ही हैं। इसीलिए बहुत कम समाजों में प्राधिकार पर इतना अधिक बल दिया गया है। शास्त्रों और प्रथाओं द्वारा हमारे जीवन की हर छोटी-से-छोटी बात तय कर दी गयी है। धर्म-ग्रंथों और उनके टीकाकारों द्वारा हमारे चिंतन से जुड़ी हर बात बँधी हुई है, हालाँकि इसमें धर्मग्रंथों की भूमिका कम और टीकाकारों की ज़्यादा है। हमने सिर्फ़ एक क्षेत्र अर्थात निजी आध्यात्मिक अनुभव के दायरे में प्राचीन काल की उस स्वाधीनता और मौलिकता को क़ायम रखने की इच्छा प्रदर्शित की है जिससे हमारी अतीत की महानता का जन्म हुआ था। इसी अक्षय स्रोत में होने वाली नयी हलचल से ही हमें नये आवेग, नवीन शक्ति मिलती रही है। यदि ऐसा नहीं होता तो हमारी जगह भी बहुत पहले उस क़ब्र में होती जहाँ यूनान, सीज़र के रोम, ऐसारहेडॉन और चोसरोस के मृत देश दफ़्न हैं। आपने बहुत लोगों को कहते सुना होगा कि हमारी राष्ट्रीय जीवनी-शक्ति बहुत कुछ हिंदू धर्म के विभिन्न रूपों की देन है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि यह भूमिका तो इसकी मूल चेतना ने निभायी है। अपनी राष्ट्रीय उत्तरजीविता के लौकिक चमत्कार का श्रेय रघुनंदन और नदिया और भाटपारा के पंडितों को देने की बजाय मैं शंकर, रामानुज, नानक, कबीर, गुरु गोविंद, चैतन्य, रामदास और तुकाराम को देना चाहूँगा।

जो भारतीय बौद्धिकता किसी ज़माने में दुनिया के पैमाने पर सर्वाधिक विराट और मौलिक थी, उसे इसी तरह दासता के कारण लगातार क्षयग्रस्त होना पड़ा है। इसीलिए हमारी बाद की गतिविधियों पर अपने सर्वश्रेष्ठ रूपों में भी एक ख़ास तरह की असमर्थता, क्षीणता और दुर्बलता की छाप दिखती है। यूरोपीय सम्पर्क के परिणामस्वरूप हम पर हाल ही में थोपी गयी नयी परिस्थितियों और नये ज्ञान के सामने हमारी निरंतर लाचारी इसकी सबसे असाधारण मिसाल है। हमने इन्हें आत्मसात करने की, नकारने की और इनमें से कुछ का चुनाव करने की कोशिश भी की है। लेकिन हम कोई भी काम सफलतापूर्वक नहीं कर पाये। किसी को सफलता के साथ आत्मसात करने के लिए उस पर महारत हासिल करनी होती है। लेकिन बजाय इसके कि हम यूरोपीय परिस्थितियों और ज्ञान को अपने क़ाबू में करते, यूरोपियन हमें जीतने, अधीनस्थ करने और ग़ुलाम बनाने में कामयाब हो गये। किसी को सफलतापूर्वक अस्वीकार तभी किया जा सकता है, जब हम अपनी इच्छित वस्तु को अपने पास रखने की योग्यता से सम्पन्न हों। हमारा नकार भी एक अक़्लमंद नकार होना चाहिए। समझने में नाकामी के कारण किसी को ख़ारिज करने के बजाय यह फ़ैसला उसके बारे में बनायी गयी समझ के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन हमारे हिंदूवाद और हमारी पुरानी संस्कृति के रूप में जो सम्पत्ति हमने जमा कर रखी है, उसके पीछे बुद्धि तो नाममात्र की भी नहीं है। अपनी पूरी ज़िंदगी में हम जो भी करते हैं, उसके बारे में हमें पता नहीं होता कि हम वे काम क्यों कर रहे हैं। हम यह जाने बग़ैर ही बहुत सी चीज़ों पर विश्वास करते हैं कि हमारी आस्था का आधार क्या है। कई मरतबा हमारी बहुत सी दावेदारियाँ यह जाने बिना ही होती हैं कि हमें उन्हें करने का अधिकार है भी या नहीं। कभी इसलिए कि किसी ग्रंथ या किसी पुरोहित ने ऐसा निर्देश दिया है, या इसलिए कि शंकर ने ऐसा कहा था, या फिर इसलिए कि किसी ने इसकी व्याख्या हमारे धर्म के बुनियादी शास्त्र के रूप में कर दी है। दरअसल कोई भी चीज़ हमारी अपनी

किसी को सफलतापूर्वक अस्वीकार तभी किया जा सकता है, जब हम अपनी इच्छित वस्तु को अपने पास रखने की योग्यता से सम्पन्न हों। हमारा नकार भी एक अक़्लमंद नकार होना चाहिए। समझने में नाकामी के कारण किसी को ख़ारिज करने के बजाय यह फ़ैसला उसके बारे में बनायी गयी समझ के आधार पर ही होना चाहिए।

नहीं है, हमारी बौद्धिकता में कुछ भी देशज नहीं है, सारी बातें कहीं और से ली गयी हैं। चूँकि नये ज्ञान के बारे में हमारी समझ बहुत ही कम है, इसलिए यूरोपियन अपने और अपनी आधुनिक सभ्यता के बारे में हमें जो समझाना चाहते हैं हम वही समझ पाये हैं। पता नहीं इसे संस्कृति कहा भी जाना चाहिए या नहीं, पर हमारी अंग्रेज़ी संस्कृति ने परनिर्भरता के हमारे दुर्गुण को दुरुस्त करने के बजाय दस गुना बढ़ा दिया है।

आत्मसात करने और अस्वीकार करने की प्रक्रियाओं के मुक़ाबले सफलतापूर्वक चयन करने के लिए बुद्धि के स्वतंत्र उपयोग की कहीं अधिक आवश्यकता पड़ती है। अगर हमने नये विचारों और संस्थाओं को उनकी थमायी गयी व्याख्याओं समेत स्वीकार कर लिया तो चयन करने के बजाय हम सिर्फ़ आँख मूँद कर मूर्खों की तरह उनकी अनुचित नक़ल करते नज़र आऐंगे। बहुत सारे मामलों में हमारा पहले का ज्ञान तक़रीबन शून्य ही रहा है। यदि हम नये विचारों को अपने पहले के ज्ञान के आधार पर अपनाते हैं तो हम आँख मूँद कर और मूर्खों की तरह उन्हें ख़ारिज करते दिखेंगे, क्योंकि वह ज्ञान अपने कई आयामों में सारहीन हो चुका है। चयन के लिए यह आवश्यक है कि हम चीज़ों को उस तरह न देखें जिस तरह एक विदेशी या एक रूढ़िवादी पंडित देखता है, बल्कि इस तरह देखें जिस तरह वे अपने आप में हैं। लेकिन हुआ यह है कि हमने चयन भी बेतरतीब किया, और अस्वीकार भी। हम यह नहीं जान पाये हैं कि किस तरह विचारों को आत्मसात किया जाए या किस तरह उनका चुनाव किया जाए। नतीजा यह हुआ कि हम सिर्फ़ यूरोपीय प्रभाव से पीड़ित रह गये। कभी हम उसके रुतबे के नीचे दब गये तो कभी उसका भोंडा प्रतिरोध करते रहे। कुल मिलाकर अपनी दयनीयता में हम अपने हालात के दास बने हुए हैं। न तो हम पूरी तरह ख़त्म हो रहे हैं, और न ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हैं। दरअसल हमने एक ख़ास तरह की निपुणता और नफ़ासत का इस्तेमाल करना ज़ारी रखा है जिसके ज़रिये मेधावी होने का दिखावा करते हुए अनुकृति कर पाते हैं। हम ऊपरी तौर पर और कभी बेहतरीन ढंग से विषय की सूक्ष्मताओं से खेल सकते हैं, लेकिन उपयोगी चिंतन नहीं कर पाते। चीज़ों के अस्तित्व और उसके मर्म में नहीं उतर पाते। जबकि स्थिति यह है कि इस तरह की महारत हासिल करके ही हम एक राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व क़ायम रखने की उम्मीद कर सकते हैं।

हम अपने खोये हुए बौद्धिक स्वातंत्र्य और लचीलेपन को कैसे हासिल कर पायेंगे? इसे फिर से हासिल करने के लिए कम-से-कम फ़िलहाल हमें उस प्रक्रिया को उलटना होगा जिसके कारण हमने इन्हें खोया है। हमें अपने दिमाग़ों को दासत्व से लेकर प्राधिकार तक सभी मामलों में मुक्त करना होगा। सुधारक और अंग्रेज़ीदाँ नहीं चाहते हैं कि हम ऐसा करें। वे हमसे प्रभुत्व को ठुकराने, प्रथाओं और अंधविश्वासों के ख़िलाफ़ बग़ावत करने तथा मुक्त और प्रबुद्ध दिमाग़ रखने की उम्मीद करते हैं। लेकिन असल में उनकी इन मुखर सिफारिशों का अर्थ यह होता है कि हमें सायण का प्रभुत्व नकारना चाहिए और इसकी जगह हमें मैक्स म्यूलर को स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी तरह इन सिफ़ारिशों का यह अर्थ भी होता है कि हमें शंकर के एकात्मवाद की बजाय हेक्केल के एकात्मवाद, लिखित शास्त्रों के बजाय यूरोपीय सामाजिक विचार के अलिखित क़ानून तथा ब्राह्मण पंडितों की रूढ़ियों के बजाय यूरोपीय वैज्ञानिकों, विचारकों और चिंतकों की रूढ़ियाँ अपना लेनी चाहिए। आत्म-सम्मान रखने वाला कोई भी व्यक्ति ग़ुलामी से भरे इस बेवक़ूफ़ाना लेन-देन को स्वीकार नहीं कर सकता। आइए हम अपनी ज़ंजीरें तोड़ दें। भले ही ये ज़ंजीरें कितनी भी आदरणीय क्यों न हों, लेकिन स्वतंत्र होने के लिए इन्हें हटाना ही होगा। और हमें यूरोप के नाम पर नहीं, बल्कि सत्य के नाम पर ऐसा करना होगा। हो सकता है कि हमारा पुराना भारतीय ज्ञान हमें रोशनी देने में अक्षम हो गया हो, लेकिन इसके बदले में उधार लिए गये यूरोपीय प्रबोधन को अपनाना या प्रचलित हिंदू धर्म के अंधविश्वासों के बजाय भौतिकवादी विज्ञान के अंधविश्वासों को अपनाना एक नुक़सानदेह सौदा ही होगा।

इसी तरह, यदि भारत को अपना अस्तित्व क़ायम रखना है और दुनिया में अपने लिए नियत कार्यभार पूरा करना है तो हमारी पहली ज़रूरत यह होगी कि भारत के युवक चिंतन करना सीखें। उन्हें हर विषय पर स्वतंत्रता और सार्थकता के साथ चिंतन करना सीखना होगा। सिर्फ़ सतह पर रुक जाने के बजाय तह तक जाना होगा। पूर्व-निर्णय से बचते हुए, वाक्-छल और पूर्वग्रह को तीखी तलवार से काटते हुए हर तरह के दक़ियानूसीपन को भीम की गदा से चूर-चूर कर देना होगा। बजाय इसके कि हम अपने दिमाग़ को यूरोपीय शिशुओं की तरह कपड़ों की मोटी पट्टी में लपेट कर रखे रहें, युवकों को देवताओं की उन्मुक्त और अकुंठ गति फिर से हासिल करनी होगी। न केवल बारीकियों में उतरना होगा, बल्कि भारतीय बुद्धि के लिए स्वाभाविक व्यापक निपुणता और बौद्धिक सम्प्रभुता उपलब्ध करनी होगी। एक बार अगर इसे अपनी शक्ति की अनुभूति हो गयी और यदि इसने अपने मूल्य का एहसास कर लिया, तो फिर इसे फिर से हासिल करना कठिन नहीं होगा। भारत अगर अपनी बेड़ियाँ न भी तोड़ सके, उसका उदय शिशु कृष्ण की तरह तो हो ही सकता है। गाड़ी से बँधे हुए शिशु कृष्ण आगे बढ़ते हुए अपने साथ गाड़ी भी घसीटते चले गये थे जिसने दो जुड़वाँ वृक्षों को भी उखाड़ डाला था, अंध मध्ययुगीन दुराग्रह और हठी आधुनिक कठमुल्लावाद के उन वृक्षों को जो आत्म-सिद्धि में बाधक थे।

पुराने जड़ हो चुके आधार टूट रहे हैं। हम बेहद उथल-पुथल और परिवर्तन के समुद्र में गोते लगा रहे हैं। अतीत के बहते हुए बर्फ़ के टुकड़ों से चिपके रहने का कोई फ़ायदा नहीं है। ये जल्द ही पिघल जाएँगे और जो लोग इसकी शरण लिए हुए हैं उन्हें बदलावरूपी समुद्र के ख़तरनाक पानी से संघर्ष करना ही पड़ेगा। हमें दोयम दर्जे के यूरोपीयवाद की गंदी दलदली ज़मीन पर ख़ुद को बनाये रखने से कोई फ़ायदा नहीं होने वाला। यह गंदी दलदली ज़मीन न तो समुद्र है और न ही अच्छी सूखी धरती। हमें यहाँ सिर्फ़ अभागी और नापाक मौत ही नसीब होगी। नहीं, हमें तैरना सीखना ही होगा ताकि उस शक्ति का प्रयोग करके अपरिवर्तित सत्य की उस बेहतर नाव तक पहुँचा जा सके जिसके सहारे काल की शाश्वत चट्टानों पर हमारे क़दम पड़ सकें।

बेतरतीब चयन या नामहीन घालमेल के दम पर अपनी पीठ ठोंकते हुए पूर्व और पश्चिम का समावेशन करने का दावा करने से कुछ नहीं होगा। हमें शुरुआत करनी चाहिए इस बात से कि हम सिर्फ़ विश्वास के आधार पर किसी भी स्रोत से, चाहे वह कोई भी हो, सामने आने वाली बातों को स्वीकार नहीं करेंगे। हम हर चीज़ पर सवाल खड़ा करेंगे और ख़ुद अपना नतीजा निकालेंगे। हम इस बात से नहीं डरेंगे कि ऐसा करने से हम भारतीय नहीं रह जाएँगे या हम एक ऐसी स्थिति में आ जाएँगे जहाँ हमारे सामने हिंदू धर्म को पूरी तरह से छोड़ देने का ख़तरा पैदा हो जाएगा। यदि हमने वास्तव में अपनी ख़ातिर चिंतन किया तो भारत हमेशा भारत रहेगा और हिंदू धर्म भी हिंदू धर्म के रूप में क़ायम रहेगा। लेकिन यदि हम यूरोप को अपने बारे में सोचने की इजाज़त देते हैं तो हमारे सामने यह ख़तरा उत्पन्न हो जाएगा कि भारत यूरोप की एक आधी-अधूरी और बेवक़ूफ़ाना नक़ल न बन जाए। यह ठीक है कि हम पक्षधरता के साथ शुरुआत न करें, पर अपनी दिशा तय करने से पहले हमें जानना होगा कि हम कर क्या रहे हैं।

मौलिक चिंतक के रूप में हमारा पहला काम यह होगा कि हम किसी भी चीज़ को स्वीकार न करें और हर चीज़ पर सवाल खड़ा करें। इसका अर्थ यह है कि हम ऐसे सभी पुराने और नये रवैयों से पीछा छुड़ा लें जिनका परीक्षण नहीं किया गया है और जो महज़ हमारे भीतर संस्कारों की तरह जमे हुए हैं। इनसे पीछा छुड़ाने का मतलब यह है कि हम पहले से ही किसी चीज़ के बारे में कोई फ़ैसला नहीं करेंगे। बुद्ध ने कहा है कि अनित्य सर्वसंस्कारः। मैं इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हो पाता। कुछ ऐसे संस्कार ज़रूर हैं जो मुझे शाश्वत लगते हैं। आत्मा अगर चीज़ों को देखने का एक शाश्वत

और बुनियादी तरीक़ा नहीं है तो और क्या है। समस्त अस्तित्व की अनिवार्यता अपने आप में अज्ञेय है, नेति, नेति। इसीलिए बौद्ध धर्म के परवर्ती अनुयायियों ने यह घोषणा की कि आत्मा का अपने आप में कोई वजूद नहीं था। इस तरह ये लोग परम शून्यता के अनुर्वर और बुद्धिहीन निष्कर्ष पर पहुँचे। आखिर शून्यता भी तो एक संस्कार ही है।

जो भी हो, यह बात तय है कि हमारी आदत से जुड़ी संकल्पनाओं का एक बड़ा हिस्सा न सिर्फ़ अस्थायी है, बल्कि आधा-अधूरा और भ्रम में डालने वाला भी है। हमें इन कमियों से उबरना होगा और ऐसा मत अपनाना होगा जो सच्चा और टिकाऊ हो। लेकिन यह पता लगाने के लिए कि हमारी संकल्पनाओं में कौन-सी चीज़ सच्ची और टिकाऊ है, हमें अपनी सभी संकल्पनाओं पर कठोरता और निष्पक्षता से सवाल खड़े करने होंगे। प्रमुख यूरोपीय विचारकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इस तरह की प्रक्रिया की आवश्यकता सिर्फ़ भारत को ही नहीं बल्कि पूरी मानवता को है। जब कार्लाइल ने सभी सूत्रों या फ़ॉर्मूलों को निगल जाने की बात कही थी, तो उनका यही मतलब था। इसी प्रक्रिया द्वारा गोएटे ने यूरोपीय चिंतन में फिर से जान डाली थी। लेकिन यूरोप की यह धारा समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते सूख गयी। यूरोप में अब भी यंत्र-विशेषज्ञ काफ़ी संख्या में सामने आ रहे हैं, लेकिन वहाँ पिछले कुछ समय से मौलिक चिंतक पैदा नहीं हो रहे हैं। विज्ञान ने विस्तृत रूप से खोज-बीन करने की उसकी आज़ादी को सुरक्षित रखा है। उसने दुनिया भर की प्रक्रियाओं की बारीकियों का पता लगा लिया है, लेकिन उसके हाथ-पैर पूरी तरह से अतीत के सूत्रों या फ़ॉर्मूलों से बँधे हुए हैं। उसे कोई भी महान विचार या गहन सामान्यीकरण नसीब नहीं हो पा रहा है। इस संदर्भ में वह पूरी तरह असहाय है। वह अपने पास पहले से मौजूद ज्ञान के ख़ज़ाने से ही संतुष्ट है। उसने समुद्र के किनारे पड़े सारे कंकड़ों को खंगाल लिया है, तट के पास की खाड़ियों और कछारों का परीक्षण भी कर लिया है, आगे के सागर और अभी तक अज्ञात रहे महाद्वीपों के बारे में भी छान-बीन कर ली है। अब यूरोप हिकारत के साथ कह रहा है कि 'यह सब एक सपना है, वहाँ कुछ भी नहीं है। बस एक ऐसा कुहासा है जिससे हमें ज़मीन का भ्रम हो गया था, या फिर वही पानी है जिसका हम पहले परीक्षण कर चुके हैं।' दरअसल, यूरोप रूढ़िबद्ध और अप्रगतिशील हो गया है। वह सिर्फ़ ऐशो-आराम की नयी-नयी चीज़ें ही पैदा करता जा रहा है। इसके अलावा, उसके राजनीतिक और सामाजिक तंत्र में उत्तेजक, हिंसक और प्रभावहीन बदलाव भर हो रहे हैं। चीन, जापान और मुसलमान राज्य आँख मूँद कर यूरोप की नक़ल में लगे हुए हैं। सिर्फ़ भारत के पास ही ऐसी आत्मनिर्भर, सुप्त, ऊर्जस्वित और अजेय आध्यात्मिक वैयक्तिकता है जो आज भी उभर कर अपनी और दुनिया की जंज़ीरें तोड़ सकती है।

यदि भारत को अपना अस्तित्व क़ायम रखना है और दुनिया में अपने लिए नियत कार्यभार पूरा करना है तो हमारी पहली ज़रूरत यह होगी कि भारत के युवक चिंतन करना सीखें। उन्हें हर विषय पर स्वतंत्रता और सार्थकता के साथ चिंतन करना सीखना होगा। सिर्फ़ सतह पर रुक जाने के बजाय तह तक जाना होगा। पूर्व-निर्णय से बचते हुए, वाक्-छल और पूर्वग्रह को तीखी तलवार से काटते हुए उन्हें हर तरह के दक़ियानूसीपन को भीम की गदा से चूर-चूर कर देना होगा।

इसमें कोई शक नहीं कि मौलिक चिंतन हमें मौलिक कार्रवाई की प्रेरणा देता है। इस लिहाज़ से यहाँ एक सावधानी बरतना आवश्यक है। कार्रवाई की किसी भी पहलकदमी से पूर्व हमें न केवल अपने चिंतन की मौलिकता, बल्कि उसकी सम्यकता भी सुनिश्चित करनी चाहिए। एक अलग-थलग

पड़े हुए मौलिक विचार के आधार पर दावेदारियाँ करने या उसकी नवीनता और जीवंतता पर स्वयं फ़िदा हो कर अगर हम कार्रवाई के मैदान में उतरेंगे तो हमारा आचरण सनकियों और झक्कियों जैसा समझा जाएगा। यह दुनिया, यह समाज, इसके राष्ट्र और इसकी सभ्यताएँ सिर्फ़ नाम-मात्र के लिए अस्तित्व में नहीं हैं। ये बेहद संकुल और जटिल संरचनाएँ हैं। इनके पीछे सदियों और सहस्राब्दियों में हुआ आंगिक विकास है। कई सभ्यताएँ तो हज़ारों सालों के विकास के बाद अपने वर्तमान रूप में सामने आयी हैं। हमें जल्दबाज़ी में हासिल किये गये कुछ सामन्यीकरणों के आधार पर या किसी कट्टरता या मतांधता के आवेग या आक्रोश में इन पर विचार नहीं करना चाहिए। सबसे पहले हमें अपने नये चिंतन की व्यापकता और मज़बूती सुनिश्चित करनी होगी। हमें इस पहलू पर भी विचार करना होगा कि क्या इस चिंतन की प्रकृति इतनी व्यापक है कि वह सभ्यताओं और समाजों के विस्तार को अपने में समेट सके। हमें सावधानी से यह भी समझना चाहिए कि हम किस चीज़ को नष्ट कर रहे हैं। और भले ही कोई चीज़ एक जर्जर ऐतिहासिक खँडहर ही क्यों न हो, लेकिन हमें उसे तब तक नष्ट नहीं करना चाहिए जब तक हमारे पास उसकी जगह स्थापित करने के लिए कोई ज़्यादा बेहतर ढाँचा न हो। समाज सुधारकों के विचारों के मुताबिक़ हिंदू समाज को ख़त्म कर देने से या दार्शनिक या ग़ैर-दार्शनिक अराजकतावादियों के विचारों पर चलते हुए यूरोपीय समाज को तबाह कर देने से व्यवस्था तो नष्ट हो जाएगी, लेकिन उसकी जगह एक स्वेच्छाचारी तथा भ्रामक स्थिति ले लेगी। इन चेतावनियों को सावधानी से याद रखते हुए अपनी मर्ज़ी के अनुसार बेहद निर्मम क़िस्म का मौलिक चिंतन करने में कोई हर्ज़ नहीं है। मसलन मैं न्याय और दण्ड की वर्तमान व्यवस्था पर तीखा हमला कर सकता हूँ। मैं इस प्रणाली को पूरी तरह संवेदनहीन और ख़राब घोषित कर सकता हूँ। मैं उस स्थिति में भी ऐसा कर सकता हूँ जब मेरे पास इसके विकल्प के रूप में कोई बनी-बनायी व्यवस्था न हो। लेकिन इसके संवेदनहीन और ख़राब होने के बावजूद मुझे तब तक इसे नष्ट करने की बात नहीं करनी चाहिए जब तक इसके विकल्प के रूप में कोई नयी व्यवस्था तैयार न हो। इसका कारण यह है कि अगर नयी व्यवस्था के ज़रिये ख़ालीपन को न भरा गया तो मानव कल्याण की पक्षधर और समर्थक चेतना गहरी वितृष्णा से भर उठेगी। मान लीजिए कि मेरे पास किसी नये और बेहतर धर्म की कोई अवधारणा नहीं है। इसके बावजूद मैं किसी मौजूदा धर्म की कमज़ोरियों और संकीर्णताओं को उजागर कर सकता हूँ। लेकिन इस धर्म की कमज़ोरियों के ख़िलाफ़ मेरे मन में इतना ग़ुस्सा नहीं होना चाहिए कि मैं हर तरह की धार्मिक आस्था को ख़त्म करने की बात करने लगूँ। इसके अलावा अपनी आलोचना के अंत में मुझे यह बात याद रखनी चाहिए कि कोई धर्म न होने से अच्छा है कि एक बुरा धर्म हो। इसका मतलब यह है कि थोड़े से ज्ञान से ही मतवाले हो जाने वाले व्यक्ति की तरह प्रत्येक आस्था और आध्यात्मिकता ख़त्म करने से बेहतर यह है कि मैं असभ्य समझे जाने वाले अफ़्रीकियों के साथ मिलकर अपने परिवेश की शक्तियों की आराधना करूँ। दरअसल, जानवरों की तरह और किसी समझदारी के बग़ैर पूजा करने से भी एक ऐसी दैवी रोशनी मिलती है जो मानवता को जीवंत बनाये रखती है। दूसरी ओर, सुसंस्कृत समझा जाने वाला साम्राज्यवादी रोमन या ऐशो-आराम में रहकर सम्पत्ति जमा करने वाला आधुनिक व्यक्ति और देह की पूजा करने वाला अपनी कल्पना को एक सीधी और मज़बूत सड़क पर लाता जो इतनी चौड़ी होती है कि यह बहुत आसानी से ज़्यादा भीषण विनाश की ओर ले जाती है— *न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः*। अगर इसका ख़तरा न हो तो अंधश्रद्धा से भरी वस्तु-पूजा के विरोध को बढ़ावा देने में कोई ग़लती नहीं है। और इसी तरह एक प्राचीन और बेरहम जहालत की तारीफ़ करने से इनकार करना भी ग़लत नहीं है। मुमकिन है कि कई बार हमारे विचार कुछ ज़्यादा ही रैडिकल करार दिये जाएँ या उन्हें दुस्साहसी या क्रांतिकारी करार देते हुए उनकी निंदा की जाए। लेकिन हमें इससे परेशान नहीं होना चाहिए। इसका कारण यह है कि क्रांतिकारी चिंतन की सफलता का हमेशा ही एक मतलब यह होता है कि प्रकृति को उसके एक धक्के या प्रलय की ज़रूरत

है। यदि ऐसे विचार न हों, तो भी प्रकृति मानवता की ज़रूरत के मुताबिक़ उसमें उपयुक्त संशोधन करेगी ही। कर्म की तरह विचार पर भी यह बात लागू होती है कि चिंतन-कर्म पर भी हमारा अधिकार है। हमारे चिंतन का नतीजा ईश्वर के विवेक और सक्रिय शक्ति पर निर्भर करता है। हमारे ऊपर स्थित इस विवेक और शक्ति का हमारे भीतर भी जन्म और विकास होता है। यह मनुष्य और उसकी चेतना को ईश्वर के ब्रह्मांड से लगातार सामंजस्य बनाये रखने में समर्थ बनाती है। हमें सिर्फ़ यह कोशिश यह करनी चाहिए कि अंधकार, संकुचित क़िस्म की चमक या महज़ हिंसक चौंध के बजाय हमारा अपना प्रकाश स्वच्छता और नैरंतर्य के साथ बिखरता रहे। और, यदि हम इस आदर्श को हासिल नहीं कर सकते तो भी हमें चिंतन करना नहीं छोड़ना चाहिए। ज़्यादा अच्छी बात यह होगी कि हम चिंतन करते रहें। अंधकार में से ही दिन फूटता है और आकाश में चमकती बिजलियों का भी अपना महत्त्व है।

इसी लेख के एक अन्य संस्करण के लिए शुरुआत का मसविदा

अभी हाल ही में भारत में भी हमने इस बारे में बहुत ज़्यादा अटकलबाजी की है कि मध्ययुगीन यूरोपीय सभ्यता की तरह ही भारतीय सभ्यता में क्रमिक गिरावट होने और आख़िरकार इसका पतन होने का क्या कारण था। यूरोप की तरह यह पतन न तो आकस्मिक था और न ही पूर्ण। लेकिन हमारे राष्ट्र पर इसका असर धीमे ज़हर की तरह हुआ। इसने इसे बहुत गहराई तक चोट पहुँचायी, इसका प्रभाव हर क्षेत्र में पड़ा और इसके बुरे प्रभावों को ठीक करना बहुत ही मुश्किल है। एक निश्चित अवधि में हम गिरावट की ओर बढ़े। एक लम्बे और आकर्षक सूर्यास्त की तरह यह भी काफ़ी शानदार था। फिर शाम का धुँधलका बढ़ता गया और आख़िरकार अँधेरा छा गया। अब हमारे आकाश में बुद्धिमत्ता से भरे हुए बहुत ज़्यादा तारे थे, लेकिन ये तारे अपनी किरणों से सिर्फ़ बहुत ज़्यादा गिरावट, भ्रम और जड़ता को प्रकाशित कर रहे थे। हममें से अधिकांश लोगों के पास इस भयावह परिघटना की अपनी-अपनी व्याख्याएँ थीं। देशभक्त लोगों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि हमारे पतन का कारण विदेशी हमला और विदेशियों का घातक प्रभाव है। यूरोपीय भौतिकवाद के अनुयायी यह मानते हैं कि हमारा धर्म और हर समय प्रतिष्ठा प्राप्त इसकी सामाजिक आत्म-अभिव्यक्ति ही हमारी दुश्मन है। इनका मानना है कि धर्म ही हमारी सभी बुराइयों की जड़ है। अधिकांश मानवीय चिंतन की तरह इन व्याख्याओं में भी कुछ बातें सच हैं, लेकिन इनकी बहुत सारी बातें ग़लत भी हैं। बहरहाल किसी भी हालत में इन्हें निष्पक्ष चिंतन का नतीजा नहीं माना जा सकता है। मनुष्य को जिस तरह से परिभाषित किया जाता रहा है, उसके हिसाब से उसे एक तार्किक जीव माना जा सकता है। लेकिन यह बात जोड़ना ज़रूरी है कि अधिकांश मौक़ों पर मनुष्य बहुत ही बुरी तार्किकता रखने वाला जीव है। अमूमन वह सच्चाई का पता लगाने के लिए चिंतन नहीं करता है। इसके बजाय ज़्यादातर वह अपनी मानसिक वरीयताओं और भावनात्मक प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिए ही चिंतन करता है। उसके चिंतन के नतीजे उसकी वरीयताओं, पूर्वाग्रहों और आवेशों से प्रभावित होते हैं। वह इन नतीजों को सही साबित करने के लिए तार्किकता का प्रयोग करता है। दरअसल

आधुनिक तार्किकतावादी व्यक्ति बहुत ही सावधानी से छान-बीन करने और किसी विषय के बारे में सूक्ष्म तरीक़े से अध्ययन करने का दावा करता है। लेकिन जिस तरह हम अपने मध्ययुगीन अंधविश्वासों से जगे हैं, उसी तरह जब हम अपने आधुनिक भ्रम से जगेंगे, तो यह पायेंगे कि तार्किकतावादी व्यक्ति के सारे बौद्धिक निष्कर्ष भी उतने ही कट्टर मताग्रही हैं, जितने कि मध्ययुगीन पोप या दूसरे धर्मशास्त्रियों के थे।

यह एक दिखावटी प्रक्रिया या औपचारिक मुखौटे के रूप में होती है। कोई व्यक्ति अपनी प्रकृति के कारण जिस नतीजे पर पहुँचता है, यह उसे सही साबित करने का एक गुप्त तरीक़ा होता है। मध्य-युग में पोप और धर्मशास्त्रियों के कथन विचारों की कट्टरता का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने बिना किसी शर्म के यह स्वीकार किया था कि उनकी बातों का आधार बहुत ही सरल है, जो कि रीज़न या तर्कबुद्धि (विवेक) से अलग है। दूसरी ओर आधुनिक तार्किकतावादी व्यक्ति बहुत ही सावधानी से छान-बीन करने और किसी विषय के बारे में सूक्ष्म तरीक़े से अध्ययन करने का दावा करता है। लेकिन जिस तरह हम अपने मध्ययुगीन अंधविश्वासों से जागे हैं, उसी तरह जब हम अपने आधुनिक भ्रम से जागेंगे, तो यह पायेंगे कि तार्किकतावादी व्यक्ति के सारे बौद्धिक निष्कर्ष भी उतने ही कट्टर मताग्रही हैं, जितने कि मध्ययुगीन पोप या दूसरे धर्मशास्त्रियों के थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभी वर्तमान विचारों पर नये सिरे से जाँच-पड़ताल करने और उनमें संशोधन करने की आवश्यकता है। ये सभी विभिन्न विषयों या वस्तुओं के बारे में हमारे व्यक्तिगत दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं। ये किसी विषय के बारे में आंशिक या पक्षपात से भरे नज़रिये को ही सामने लाते हैं। कई बार हम अपने इच्छित नतीजे को सही साबित करने के लिए कुछ आँकड़ों का इस्तेमाल करते हैं। इसलिए हमेशा ही यह विकल्प सबसे अच्छा है कि उन तीखी व्याख्याओं का बहुत गहराई से परीक्षण किया जाए जो हमारी बौद्धिकता में मौजूद फ़सादी जानवर को बहुत आसानी से संतुष्ट कर देती हैं। हमने यह स्वीकार किया है कि इन व्याख्याओं में सच्चाई का एक छोटा हिस्सा मौजूद है। इसलिए, हमें हमेशा सच्चाई के उस व्यापक हिस्से की खोज करनी चाहिए जो उन व्याख्याओं में मौजूद नहीं है। हम जिस परिघटना का अवलोकन कर रहे हैं, उसके पीछे एक निश्चित सीमा तक बहुत सारी पेचीदा व्यक्तिपरक गतिविधियाँ और कारण काम कर रहे हैं। क्या ख़ासतौर पर इस स्थिति में सीधे, सरल और तेज़ समाधानों पर अविश्वास करना सही है।